सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भकाल का तीसरा संस्कार था। इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के केशों को उठाने का क्रिया-विधान है—"**सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत्सीमन्तोन्नयनम्**"। जन सामान्य के हृदय में यह आस्था थी, कि गर्भवती स्त्री को अमङ्गलकारी शक्तियाँ दुःखित कर देती हैं; अतः उनके निवारण के लिए विशेष संस्कार की आवश्यकता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में इस विश्वास का उल्लेख मिलता है, जहाँ यह लिखा है कि राक्षसियाँ नारी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं इसलिए पुरुष को चाहिए कि उन अमङ्गलकारी शक्तियों के विनाश के लिए वह श्री का आवाहन करे। इन अमंगलकारी प्रवृत्तियों को भगाने के लिए ही इस संस्कार का विधान किया गया है। इस संस्कार का दूसरा प्रयोजन माता के लिए ऐश्वर्य तथा गर्भस्थ शिशु के लिए दीर्घायुष्य की कामना भी था। बौद्धायन गृह्यसूत्र में एक अन्य प्रयोजन का भी संकेत मिलता है। वह यह है कि गर्भवती स्त्री को प्रसन्न करना भी इस संस्कार का प्रयोजन है। इस संस्कार का समय गर्भाधान के चौथे मास में बताया गया है—"**चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्**"[1] अथवा "**पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठे अष्ठमेवा**"।[2] सुश्रुत-संहिता में लिखा है कि "गर्भधारण के समय से स्त्री को मैथुन, श्रम, दिवाशयन, रात्रि जागरण, सवारी पर यात्रा, भय, रेचन, रक्तस्त्रवण, मल-मूत्र का असामयिक स्थगन आदि से बचाना चाहिए।" इस निर्देश का स्पष्ट ही आशय शिशु की रक्षा से है।

जातकर्म संस्कार—इस संस्कार का उद्देश्य निर्विघ्न प्रसव होने के अतिरिक्त बालक को शूरवीर, यशस्वी, वर्चस्वी बनाने का था। जातकर्म संस्कार के अवसर पर होने वाली एक क्रिया यह भी थी कि आर्य सन्तान के जन्म लेते ही उसकी जिह्वा पर स्वर्ण की सलाई से घृत एवं मधु से "ओ३म्" लिखा जाता था, तथा कान में 'वेदोऽसि' कहा जाता था। अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (१/११) में सरल एवं सुरक्षित प्रसव के लिए प्रार्थनाएँ तथा उपचार वर्णित हैं। गृहसूत्रों में इस संस्कार का विशद वर्णन है। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, एवं स्मृतियों में भी धार्मिक तत्त्वों का निर्देश है। परन्तु मध्ययुगीन पद्धतियों में मातृ-गृह प्रबन्ध, उसमें प्रवेश के विधि-विधान, प्रसूता के निकट वांच्छनीय व्यक्तियों की उपस्थिति तथा कतिपय शिशु मेधा-जनन, आयु, बल प्राप्ति के लिए कामनायें तथा विधान है। यह संस्कार नाभि-बन्धन के पूर्व ही सम्पन्न किया जाता था।

नामकरण संस्कार—भारतीय हिन्दू धर्म ने प्राचीन काल से ही व्यक्तिगत नामों के महत्त्व को स्वीकार कर नामकरण की इस भाषा-शास्त्रीय समस्या को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया था। वृहस्पति ने "वीरमित्रोदय-संस्कृत-प्रकाश" में नामकरण की अनिवार्यता की ओर संकेत किया है। वह लिखता है कि समस्त नाम

Scanned with CamScanner

समस्त लौकिक व्यवहारों का हेतु है, शिवं का आधायक है और भाग्योदय का हेतु है। मनुष्य अपने नाम के आधार पर ही कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरण संस्कार प्रशसनीय है—"नामाखिलस्य व्यवहार हेतुः शुभावहं कर्म शुभाग्य हेतुः नाम्नैव कीर्तिमते मनुष्य ततः प्रशस्तं खलु नाम कर्म"। ऋग्वेद में भी नामन् शब्द का उल्लेख है। नामकरण की यह परम्परा प्राचीनतम है, क्योंकि वैदिक साहित्य में व्यक्ति तथा पदार्थों के नाम निर्धारित हैं। इस प्रकार ऋग्वेद, ऐतरेय, एवं शतपथ ब्राह्मण में गुह्यनाम का भी उल्लेख मिलता है। नवजात शिशु के नामकरण के विषय में प्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[1] में इस प्रकार मिलता है—"तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्" विभिन्न सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार यह सस्कार जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। अन्यान्य ग्रन्थों में ११ वें दिन, १०१ वें दिन तथा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में करने का भी संकेत मिलता है।

निष्क्रमण संस्कार—नवजात शिशु को विधि-विधान के साथ प्रथम बार गृह से बाहर लाने की विधि का नाम निष्क्रमण है, तत्सम्बद्ध संस्कार निष्क्रमण संस्कार है। यह चौथे मास में होने वाला संस्कार है। बालक घर से बाहर निकल कर सूर्य का दर्शन करता था।[2]

वैदिक साहित्य में केवल गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का केवल इतना ही संकेत मिलता है कि—पिता शिशु को बाहर लेजाकर "तच्चक्षुर्देवहितं[3] मन्त्रसे सूर्य के दर्शन कराता है। परवर्त्ती स्मृतियों एवं निबन्धों में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है। निष्क्रमण-संस्कार का समय जन्म के बारहवें दिन से चौथे मास तक विभिन्न रूपों में था। यम का कथन है कि तृतीय माह में शिशु को सूर्य दर्शन कराना चाहिये, चतुर्थ मास में चन्द्रदर्शन—

ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ।
चतुर्थेमासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्र दर्शनम् ॥

सूत्रकाल में यह संस्कार माता-पिता द्वारा शिशु को सूर्यदर्शन करा कर ही समाप्त हो जाता था तो परवर्त्ती साहित्य में अधिकाधिक विधिविधानों के साथ अलंकृत बालक को कुल देवता के समक्ष लाना, वाद्य-संगीत के साथ देवता की पूजा करना, आठों लोकपाल, सूर्य, चन्द्र, वायुदेव एवं आकाश की स्तुति करना तथा बाद में ब्राह्मणों को भोज-दानादि का समावेश भी हो गया है। प्रस्तुत संस्कार का उद्देश्य—वायु सेवन, सृष्टि अवलोकन का प्रथम शिक्षण है तथा दैहिक आवश्यकता की पूर्ति है।

Scanned with CamScanner

अन्नप्राशन—बालक की शरीर वृद्धि के साथ ही उसे पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। माँ के द्वारा मिलने वाले दुग्ध से उसकी पूर्ण तृप्ति न होने के कारण तथा माँ के शरीर को स्वस्थ रखने की भावना के साथ ही इस संस्कार का उदय हुआ है। 'सुश्रुत संहिता' नामक आयुर्वेदीय ग्रंथ मे शिशु को षष्ठ मास में पथ्य भोजन देने का विधान मिलता है। यद्यपि वैदिक-साहित्य में भी कुछ इस प्रकार की श्रुतियाँ मिलती है, किन्तु इस संस्कार को सूत्रकाल में ही आकर कर्मकाण्डीय आवरण मिलता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार जन्म के छठे मास में किया जाता था। **षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्।**[1] मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो का भी यही मत है। किन्तु लौगाक्षी का अपना विचार यह है कि शिशु की पाचन-शक्ति के बढ़ने अथवा दाँतों के निकलने पर ही **इस संस्कार** का विधान उचित है—"**षष्ठे अन्न प्राशनम्-जातेषु दन्तेषु जातेषु वा।**" किसी-किसी ग्रन्थ में इस अवसर पर शिशु को माँस देने का भी विधान है, परन्तु मार्कण्डेय पुराण तथा अन्यान्य ग्रन्थों में भी मधु-घी तथा खीर खिलाने का विधान मिलता है।

चूड़ाकर्म संस्कार—धर्मशास्त्र के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति को दीर्घायु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति करना ही इस संस्कार का प्रयोजन था। आयुर्वेदीय ग्रन्थों से भी उस संस्कार का समर्थन होता है। मुण्डन के लिए सिर को गीला करने का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। सूत्रकाल में आकर चूडाकर्म के विधि-विधानों को व्यवस्थित रूप मिला। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व हो जाना आवश्यक है **तृतीय वर्षे चौलम्।** किन्तु परवर्त्ती साहित्य में इस आयु को ५ वर्ष से ७ वर्ष तक भी माना है। इस संस्कार में सिर के सभी बालों को मुड़वा कर चोटी का रखना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस संस्कार के अवसर पर सिर को गीला कर बालों को काटा जाता है, फिर केशों को गीले आटे के पिण्ड के अथवा गोबर के पिण्ड के साथ फैंकना (गुप्त रूप में)। चौथी बात है, शिखा रखना। इस संस्कार के साथ एक वैज्ञानिक तत्त्व यह भी निहित है कि शिखा जिस स्थान पर रखी जाती है, वह कोमलतम स्थान है, केशों से उसकी रक्षा होती है। यह भावना सुदूर अतीत में रही हो तो कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ शिखा जातीय सूत्र की बोधक तो अवश्य ही है।

कर्णवेध संस्कार—कानों का छेदा जाना सुदूर अतीत में केवल सौन्दर्य के प्रसाधन के रूप में ही था; किन्तु परवर्त्ती काल में इसकी कुछ उपयोगिता सिद्ध हो जाने के उपरान्त इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए धार्मिक आवरण में भी आवृत्त कर दिया गया। 'सुश्रुत संहिता' का कथन है कि रोगादि से बचना तथा भूषण अथवा अलङ्करण के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। सुश्रुत अण्डकोष

Scanned with CamScanner

की वृद्धि तथा आंत वृद्धि निरोध के लिए भी कर्णवेध संस्कार का विधान करता है। इस संस्कार का सर्वप्रथम अथर्ववेद के एक सूक्त में विधान मिलता है। वृहस्पति के अनुसार यह संस्कार जन्म के १० वें, १२ वें अथवा १६ वें दिन किया जाता था। गर्ग छठे, सातवें, आठवें अथवा बारहवें मास में इस संस्कार का विधान करता है। श्रीपति बालक के दाँतों के निकलने से पूर्व ही इसका विधान करते हैं। कात्यायन तीसरे या पाँचवें वर्ष के निर्देश के साथ शुभ दिन में पूर्वाभिमुखासीन बालक के क्रमशः दायें, बायें कान को छेदन का निर्देश करता है।

विद्यारम्भ संस्कार—बालक के शिक्षा ग्रहण के योग्य हो जाने पर विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था। इसी को दूसरे शब्दों में अक्षरारम्भ भी कहा जाता था। सर्वप्रथम स्मृतियों में ही इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। इसका आरम्भ चौल एव मुण्डन संस्कार के साथ ही किया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इसी विचारधारा की पुष्टि होती है। बालक स्नानादि से पवित्र होकर गणेश, सरस्वती, गृह देवता, लक्ष्मी नारायण आदि की स्तुति के साथ गुरु के सम्मुख बैठकर अक्षरों को तीन बार पढ़ता था।

उपनयन संस्कार—गुरु के समीप ले आना—इस अर्थ का यह बोधक शब्द एक सुदीर्घ ऐतिहासिक परम्परा को आत्मसात् किये हुए हैं। अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है। किन्तु इस शब्द का वास्तविक अर्थ आचार्य द्वारा आगत शिष्य को दीक्षादान है। ब्राह्मणकाल में भी यही मान्यता बनी रही और सूत्रकाल में भी यही स्थिति रही। किन्तु परवर्त्तीकाल में गायत्री मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म के अर्थ में उपनयन शब्द रूढ़ हो गया है। मनु और याज्ञवल्क्य, उपनयन संस्कार से बालक का द्वितीय जन्म मानते हैं। किन्तु आगे की परम्परा छात्र का आचार्य के निकट लाने के अर्थ में ही इस संस्कार की मान्यता की इतिश्री समझने लगी। आज इस संस्कार से केवल यज्ञोपवीत संस्कार ही माना जाता है। मातृ-पितृ-आचार्य ऋण को सदैव स्मरण कराने के लिए आचार्य-संस्कार को कराता है। ऐसी भी मान्यता थी कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुत्रों को १६,२२,२४ वर्ष तक यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार अवश्य ही कर लेना चाहिए। अन्यथा वह व्रात्य (पतित) इस संज्ञा का अधिकारी होता है। वैसे इस संस्कार का ब्राह्मण पुत्र के लिए आठवें, क्षत्रिय पुत्र के लिए ग्यारहवें, वैश्य पुत्र के लिए बारहवें वर्ष का भी विधान है।"[1]

वेदारम्भ संस्कार—प्राचीनकाल में उपनयन संस्कार के साथ ही वेदों का अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ हो जाता था, किन्तु परवर्त्तीकाल में संस्कृत बोलचाल की

Scanned with CamScanner

भाषा नहीं रही तो उपनयन केवल दैहिक संस्कार मात्र रह गया। अतः इस संस्कार के पूर्व ही ब्रह्मचारी लोकभाषा का अध्ययन आरम्भ कर देता था। इसलिए संस्कृत भाषा तथा वैदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन के आरम्भ करने के लिए एक अन्य संस्कार का उद्भव आवश्यक माना गया। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वेदारम्भ संस्कार का उदय हुआ है। इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख व्यासस्मृति में मिलता है। इस वेदारम्भ-संस्कार में ब्रह्मचारी को आचार्य अनेक सदुपदेश देकर उपनयन-संस्कार के बाद एक वर्ष के भीतर ही गायत्री मन्त्र की दीक्षा के साथ अपना अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ कर देता था।

केशान्त अथवा गोदान—इस संस्कार में ब्रह्मचारी की श्मश्रुओं का सर्वप्रथम क्षौर किया जाता था। इसे गोदान-संस्कार भी कहते हैं क्योंकि इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता था। यह संस्कार ब्रह्मचारी की सोलह वर्ष की अवस्था में सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार की मान्यता के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों में विवाद है। कोई-कोई आचार्य चूड़ाकरण के साथ भी इस संस्कार को सम्बद्ध करते हैं।

समावर्त्तन-संस्कार अथवा स्नान—वीर मित्रोदय में समावर्त्तन का अर्थ है—**तत्र समावर्त्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरम् गुरुकुलाद् स्वगृहागमनम्**, अर्थात् वेदाध्ययन के उपरान्त गुरुकुल से अपने घर को प्रत्यावर्त्तन का नाम समावर्त्तन है। इस संस्कार का दूसरा नाम 'स्नान-संस्कार' भी है क्योंकि समावर्त्तन-संस्कार के करने से पूर्व ब्रह्मचारी को शीतल पवित्र जल से स्नान कराने का भी विधान था। दूसरे शब्दों में, इस संस्कार को 'दीक्षान्त-संस्कार' भी कहा जाता था। प्राचीन मान्यता के अनुरूप ब्रह्मचर्याश्रम एक दीर्घसत्र था। गृह्यसूत्र में लिखा है कि—**"दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति"** इस दीर्घसत्र के उपरान्त स्नान एक अनिवार्य विधान था, क्योंकि संस्कृत का अध्ययन सागर सन्तरण के समान माना जाता था और वह स्नातक भी विद्या-सागर का पारङ्गत माना जाता था। "इस प्रकार विद्यार्थी जीवन के अन्त में किया जाने वाला प्रस्तुत सांस्कृतिक स्नान भी विद्यार्थी के द्वारा विद्या-सागर को पार करने का प्रतीक था।"

विवाह-संस्कार— समस्त संस्कारों में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह-संस्कार से होता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी वैवाहिक विधि-विधानों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। उपनिषदों के युग में भी आश्रम चतुष्टय का सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था, जिनमें गृहस्थाश्रम की महत्ता सर्वाधिक स्वीकार की जा चुकी थी। गृह्य-सूत्रों, धर्म-सूत्रों एवं स्मृतियों में भी परवर्त्ती काल में प्रस्तुत संस्कार का पूर्ण परिचय मिलता है। स्वामी दयानन्द ने "गृहाश्रम-संस्कार" का भी विधान किया है; उनके अनुसार ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और

Scanned with CamScanner

नियत काल में यथाविधि-ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना, इसी का नाम गृहाश्रम संस्कार है।" किन्तु मेरे विचार से विवाह एवं गृहाश्रम संस्कार को एक ही मान लेना अधिक उचित है।

स्वामी दयानन्द ने विद्यारम्भ एवं केशान्त को मान्यता न देकर वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के प्रवेश करने पर संस्कार का विधान किया है; अतः हम इन दोनों ही संस्कारों का सक्षिप्त परिचय यहाँ देना अनुपयुक्त नहीं समझते हैं।

वानप्रस्थाश्रम प्रवेश संस्कार—प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार यहाँ चार आश्रमों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। वानप्रस्थाश्रम का आशय यह है कि मानव अपनी गृहस्थाश्रम के लिए निर्धारित आयु को पूर्ण करके अर्थात् पचास वर्ष की आयु होने पर अथवा प्रपौत्र के हो जाने पर गृहस्थाश्रम का त्याग कर अरण्य निवास करे तथा भावी जीवन के निर्माण के लिए संयमपूर्वक साधना करे। यही नहीं, प्राचीन मान्यता के अनुरूप मुक्ति प्राप्ति के लिए ईश्वरार्चन भी करे। जैसा कि लिखा भी है—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृहीभवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रवृजेत्"

इसी श्लोक में संन्यासाश्रम का भी उल्लेख है, जिसमें वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त संन्यास लेने का विधान है। संन्यासाश्रम में दीक्षित होने पर मानव मोह आदि का परित्याग कर पक्षपात रहित विरक्त हो समस्त जन-जीवन के परोपकारार्थ विचरण करे।

अन्त्येष्टि संस्कार—हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है, जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त करता है। भारतीय पुनर्जन्मवाद में आस्था रखकर एक भारतीय इस संस्कार को करता है क्योंकि परलोक में सुख एवं कल्याण की प्राप्ति के लिए यह सस्कार आवश्यक माना गया है। बोधायन पितृमेध सूत्र में कहा गया है कि—"जात संस्कारेणेमं लोकमभिजयतिमृतसंस्कारेणामुं लोकम्" अर्थात् जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कारों द्वारा उस लोक को। अन्त्येष्टि-क्रियाओं में व्यवहृत ऋचाएँ ऋग्वेद अथवा अथर्ववेद में उपलब्ध होती हैं। इसका विधान कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक के षष्ठ अध्याय में प्राप्त होता है। परवर्ती कतिपय गृह्य सूत्रों में अन्त्येष्टि-सस्कार से सम्बद्ध विधि-विधानों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। इस संस्कार के करने से कुछ विशेष लाभ भी हैं। इस संस्कार के करने से एक तो संक्रामक रोग एवं कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि इस संस्कार से मृतक तथा जीवित के प्रति गृहस्थ के कर्त्तव्यों में सामन्जस्य स्थापित होता है। यह पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य-विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय था तथा जीवित सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करना भी इसका एक लक्ष्य था।

आज बच्चों के निर्माण के लिए न जाने कितने साधनों का प्रयोग किया जा

Scanned with CamScanner